

**THE ECONOMIC TIMES**

*Date: 23-07-18*

## **There is no shortcut to ‘Eminence’**

**V Ranganathan, (The writer is former professor, IIM-Bangalore)**



No Indian university or institute has come in the top 100 of world university rankings. The Indian Institute of Technology, Delhi, comes highest at 179 in the global 2018 QS Top Universities rankings. So, it's obvious that the regulatory bodies, the University Grants Commission and the All India Council for Technical Education (AICTE), have failed to spawn excellence. Instead, bureaucratic rigidity has nurtured mediocrity. So, how does one change this situation? The earlier

UPA government chose to set up new IITs and IIMs, to take advantage of their brand value. The present NDA government passed the IIM Act in 2017, ostensibly to give autonomy to IIMs.

Another idea was to select ‘institutions of eminence’ (IoE) and to provide them similar autonomy, and fund the public institutes among them. Any institution that aspired for the IoE tag had to pay a processing fee of Rs 1 crore, of which Rs 75 lakh would be returned if rejected. In public perception, the IITs and IIMs are reputed institutes, but the latter missed out getting an IoE tag probably for not being multidisciplinary. This could have been avoided if the eligibility criteria had been clearly mentioned.

There were other steps in selection, such as evaluating each candidate's programme of action (PoA). The proposed Jio University came under the ‘greenfield’ category. Whether excellence, or potential excellence, can be judged by promises alone is a moot point. A good PowerPoint presentation will not make up for excellence. There have also been questions about the selection committee members, as to how they are best suited to evaluate academic excellence. N Gopalaswami was chief election commissioner (CEC) with no claim to educational excellence.

He was appointed chancellor of Rashtriya Sanskrit Vidyapeetha, Tirupati, in 2015. Another committee member Pritam Singh was former director, IIM-Lucknow, even though the IIMs, de facto, were excluded for consideration. Which makes one come to the question: why is it that the five existing institutions that have been given the IoE tag — IIT-Bombay, IIT-Delhi, Indian Institute of Science (IISc), Bangalore, Birla Institute of Technology and Science (BITS) Pilani, and Manipal Academy of Higher Education — do not come out anywhere near the top 100 in global rankings? This is because, except for IISc, their reputation has been created by their students and not by their faculty, whereas elsewhere in the world, faculty contribution to reputation is a significant and primary factor.

In IITs and IIMs, there would be hardly 10 per cent of faculty who would have global recognition and, therefore, mobility. The new IIMs and IITs face severe faculty constraints. Unlike in the US, where better students join PhD programmes, in India, the BTechs of IITs and MBAs of IIMs don't join doctoral programmes in the country. The programme is usually peopled by the second-tier students from universities. So, how to manufacture ‘excellent’ institutions? There are two models of excellence: the US and Singapore-Hong Kong-China models. In the US, mainly private universities have achieved excellence, supported by liberal funding by businessmen wanting to give back to society. In India, they build temples.

Of late, some private institutes and universities are coming up in a much smaller scale. In private universities, autonomy and accountability are two sides of the same coin. They are able to pursue the search for excellence through a ruthless process of weeding out. In Indian public sector institutions like IITs and IIMs, such ruthlessness is not possible. The Indian private sector has taken some halting steps of late, but it is yet to mature. However, the Singapore-Hong Kong-China model gives an important counter-example to our previous hypothesis of incompatibility of excellent performance and public ownership. There, the government pours in tonnes of money in universities, gives the dean complete autonomy to recruit faculty at global salaries — coupled with Asian cost of living — on a no-questions asked basis, but with a clear accountability for results in a reasonable period.

The experiment has produced moderate success. This is because these places, while able to fund liberally, can't yet provide the ecosystem, and the network for faculty to be continuously productive. The accomplished 'ethnic' faculty, which comes from reputed institutions, return after a few years of 'homestay', mindful of the need for academic survival. Building excellence is not an easy process, even if you can pay for it. Given such odds, India seems to hold a simplistic idea about the path to excellence — that excellence can be allotted like a licence. So, easy options like name-changing, duplication, giving notional autonomy, etc, will not do. Like Parvati undertaking penance to marry Lord Shiva, there is no shortcut to eminence.

## बिज़नेस स्टैंडर्ड

Date: 23-07-18

### नियुक्ति में देरी से अधिकरणों के काम पर पड़ रहा असर

सोमशेखर सुंदरेशन, (लेखक अधिवक्ता एवं स्वतंत्र परामर्शदाता हैं)

कानून की दुनिया का यह एक जाना-पहचाना सच है। जब किसी अधिकरण (न्यायाधिकरण) का सदस्य सेवानिवृत्त होता है तो उसके उत्तराधिकारी की पहचान तक नहीं हुई रहती है। इससे भी कोई फर्क नहीं पड़ता है कि वह अधिकरण कितना अहम है और उसकी प्रासंगिकता कितनी है? हाल ही में प्रतिभूति अपील अधिकरण (सैट) के पीठासीन अधिकारी ने पद छोड़ दिया। उसके पहले भी सैट में एक सदस्य की जगह कई महीनों से खाली पड़ी हुई थी। लेकिन बदले हुए हालात में सैट का काम कर पाना नामुमकिन हो गया है। अब सैट किसी भी मामले की अंतिम सुनवाई नहीं कर सकता है। इसकी वजह यह है कि अधिकरण के इकलौते सदस्य न्यायिक सदस्य नहीं हैं। किसी न्यायिक सदस्य की नियुक्ति नहीं होने तक सैट में केवल अंतरिम राहत देने और नई अपील स्वीकार करने का ही काम किया जा सकता है। प्रतिभूति बाजार संबंधी मामलों की अपील संस्था के तौर पर 1995 में सैट ने कामकाज शुरू किया था।

पूंजी बाजार नियामक सेबी की तरफ से दोषी कंपनियों पर लगाए जाने वाले अर्थदंड के खिलाफ सुनवाई करने की ताकत इस अधिकरण को दी गई थी। उसके बाद से सैट की भूमिका का विस्तार होता गया। उसे सेबी के सभी तरह के आदेशों के खिलाफ अपील सुनने का अधिकार मिला और पिछले कुछ वर्षों में उसे बीमा एवं पेंशन नियामक के आदेशों के खिलाफ भी अपील सुनने की शक्ति दे दी गई। सैट में केवल एक सदस्य होता था लेकिन कार्य-विस्तार होने से सदस्यों की संख्या बढ़ाकर तीन कर दी गई। सैट का पीठासीन अधिकारी सर्वोच्च न्यायालय का कोई वर्तमान या सेवानिवृत्त न्यायाधीश या किसी उच्च न्यायालय का मुख्य न्यायाधीश होता है। सैट को वित्तीय क्षेत्र के अपील अधिकरण के तौर पर

काम करने के लिए डिजाइन किया गया है। संविधान संशोधन के आधार पर गठित आयकर अपील अधिकरण के उलट सैट का गठन सेबी अधिनियम में किए गए संशोधन के जरिये किया गया था। संसद से पारित दूसरे कानूनों ने समय के साथ सैट को खास क्षेत्राधिकार भी दे दिया।

सैट की भूमिका जहां काफी अहम है, वहीं यह नियामकों को दी गई व्यापक प्रकृति की शक्तियों के खिलाफ नियंत्रण एवं संतुलन साधने का भी बेहद जरूरी काम करता है। इसके बावजूद यह निकाय रिक्तियों को भरने के मामले में उदासीनता का शिकार होता रहा है। केंद्र की सत्ता में बैठे राजनीतिक दलों के बदलने पर भी इस प्रवृत्ति में कोई बदलाव नहीं आता है। केवल एक बार सरकार ने इस बात का ध्यान रखा था कि पीठासीन अधिकारी की नियुक्ति समय पर कर दी जाए। उसके पीछे भी शायद यह वजह थी कि तत्कालीन पीठासीन अधिकारी ने निर्धारित समय से पहले ही इस्तीफा दे दिया था जिससे वह मुद्दा राजनीतिक रंग लेने लगा था। आम तौर पर किसी भी पीठासीन अधिकारी या सदस्य की सैट से विदाई का समय पूर्व-निर्धारित होते हुए भी उनके उत्तराधिकार की कोई योजना नहीं तैयार होती है। जब किसी भी अदालत में एक न्यायाधीश को नियुक्त किया जाता है तो उसकी सेवानिवृत्ति की तारीख पता होती है। पदासीन व्यक्ति का कार्यकाल खत्म होने और उसकी सेवानिवृत्ति की तारीख भी पता होती है। इसके बावजूद उनकी जगह नए सदस्य की नियुक्ति की योजना का पूरी तरह अभाव रहता है।

इस लेखक ने एक बार बंबई उच्च न्यायालय में इस मामले में एक रिट याचिका दायर की थी। कई साल पहले सैट के सदस्य धीरे-धीरे सेवानिवृत्त हो गए थे और अधिकरण में केवल पीठासीन अधिकारी ही बचे रह गए थे। संसद ने भी इस एक सदस्यीय अधिकरण को बहु-सदस्यीय अधिकरण में तब्दील करने का कानून पारित कर पीठासीन अधिकारी को पंगु कर दिया। उस अधिकारी के एक उच्च न्यायालय का पूर्व मुख्य न्यायाधीश होने के बावजूद ऐसा हुआ था। सरकारें अक्सर कानून के उन प्रावधानों का सहारा लेती हैं जो पर्याप्त सदस्यों के अभाव में दिए गए अधिकरण के फैसलों का बचाव करते हैं। अगर सरकारी एजेंसियों को कारगर ढंग से चलाना है तो हमारे ही बनाए अधिकरणों में पर्याप्त सदस्यों की मौजूदगी सुनिश्चित करने के बारे में अग्रिम योजना की कमी की कोई गुंजाइश नहीं है। हालांकि उत्तराधिकारी की नियुक्ति संबंधी योजना का अभाव ही इकलौती बाधा नहीं है। मानव संसाधन की सहज समझ पर आधारित योजना का बुनियादी उल्लंघन करने वाले अजीबोगरीब प्रावधान भी सामने आए हैं। अगर एक सेवानिवृत्त न्यायाधीश अधिकरण का सदस्य बनता है तो उसे नई नियुक्ति के एवज में मिलने वाले वेतन में से पेंशन की रकम काट ली जाएगी।

इस तरह का नियम होने से यह सवाल खड़ा होता है कि कोई भी व्यक्ति अधिकरण के सदस्य के तौर पर नियुक्त होने में आर्थिक रूप से उत्प्रेरित क्यों होगा ? पेंशन लंबी सेवा के एवज में मिलने वाला भुगतान है जबकि नई नियुक्ति में वेतन नई जिम्मेदारियों के निर्वहन के पारिश्रमिक के तौर पर मिलता है। लेकिन किसी अधिकारी से यह सवाल पूछें तो वह वेतन राशि में से पेंशन की रकम काटने के तमाम कारण गिनाने लगेगा। उन्हें यह सोचना चाहिए कि इन नियमों में किस तरह बदलाव किए जाएं कि सही प्रतिभाओं को आकर्षित करने के लिए तर्कसंगत परिस्थितियां पैदा की जा सकें। अगर कोई प्रतिष्ठान न्यूनतम सरकार और अधिकतम शासन की दिशा में काम करने के लिए गंभीर है तो उसे अमल में लाने की यह माकूल जगह है। फिलहाल वित्तीय क्षेत्र के नियामक काफी हद तक दीवानी अदालतों की शक्तियों से लैस हैं। सैट जैसे अपील अधिकरण में केवल एक सदस्य रह जाने से राहत देने और अंतरिम उपाय की अपीलों पर सुनवाई प्रभावित होगी। कारोबारी सुगमता के लिहाज से भी यह स्थिति अच्छी नहीं है।

## सूचना - अधिकार से डर क्यों?

हरिमोहन मिश्र



शुक्र है कि फिलहाल सूचना के अधिकार कानून में संशोधन टल गया। इस संशोधन के जरिए सरकार केंद्र और राज्यों में सूचना आयुक्तों के कार्यकाल और वेतन-भत्ते तय करने में अपना अधिकार चाहती है। अभी 2005 के सूचना का अधिकार कानून में उनका पांच साल का तय कार्यकाल है और वेतन-भत्ते चुनाव आयोग के बराबर हैं। इस तरह एक मायने में सूचना आयुक्त का पद सरकार की दखल से परे है। सरकारी दलील है कि सूचना आयुक्तों को चुनाव आयोग के बराबर दर्जा देना मुनासिब नहीं है। लेकिन

इससे तो सूचना आयुक्तों के मामले में सरकारी दखलअंदाजी बढ़ जाएगी। आरटीआई कार्यकर्ताओं का विपक्षी दलों की ये शंकाएं बेजा नहीं कही जा सकतीं कि इससे आरटीआई कानून कमजोर हो जाएगा और एक मायने में सूचना आयोग का संवैधानिक दर्जा भी खत्म-सा हो जाएगा। दरअसल लंबी हीला-हवाली और इंतजार के बाद पिछली यूपीए सरकार के दौरान देश में लोगों को सूचना का अधिकार (आरटीआई) 12 अक्टूबर 2005 को हासिल हुआ। लेकिन बाद में पिछली सरकार को भी यह रास नहीं आ रहा था।

पूर्व प्रधानमंत्री मनमोहन सिंह ने तो 2013 में यह कहा भी कि सूचना के अधिकार का दुरु पयोग हो रहा है और यह सरकारी कामकाज में अडंगे की वजह बन रहा है। मनमोहन सरकार भी इसमें कुछ शतरे जोड़ने और कई मामलों को सूचना के अधिकार के दायरे से बाहर करने के लिए संशोधन लाने की बात करने लगी थी, लेकिन इस पर हंगामा उठा तो उसने अपनी वह योजना मुलतवी कर दी थी। तब सूचना के अधिकार को ढीला करने की कोशिश का आरोप मढ़ने में भाजपा भी सबसे आगे थी। लेकिन आज सत्ता में होने पर उसकी बोली बदल गई है। हालांकि यह जरूर कहना होगा कि यूपीए और कांग्रेस नेतृत्व ने इस कानून का हमेशा पक्ष लिया और किसी तरह के फेरबदल से इनकार किया। मौजूदा एनडीए सरकार में तो सूचना देने से इनकार करने की कई मिसालें हैं।

जिस राफेल सौदे में विमानों के दाम में भारी इजाफे को लेकर विपक्षी दलों की ओर से शंकाएं उठ रही हैं, उसकी सूचना देने से इनकार करने की वजह फ्रांस से हुए गोपनीयता की संधि का हवाला दिया जा रहा है। यह दलील अगर जायज भी मान ली जाए तो ऐसी अनेक मिसालें हैं, जिसमें ऐसी सूचनाएं देने से भी संवेदनशीलता और गोपनीयता के नाम पर इनकार किया गया, जिनके लोगों की जानकारी में आने से लोकतंत्र की भावना ही मजबूत होगी। मसलन, सरकारी बैंकों के बड़े कर्जदारों के नाम क्यों नहीं जाहिर होने चाहिए। कुछेक जो मामले खुले भी हैं, वे घोटाले-घपलों के खुलने ही सार्वजनिक जानकारी में आ पाए हैं। असल में हर सार्वजनिक कामकाज पर लोगों की नजर रहने से वह अंकुश बना रहेगा, जो लोकतंत्र को सही रास्ते पर बनाए रखेगा। आरटीआई कानून को संविधान के अनुच्छेद 19 (1) (ए) में प्रदत्त बोली और अभिव्यक्ति की आजादी का ही विस्तार माना गया है। इस कानून के मौजूदा स्वरूप की जमीन तैयार करने में सुप्रीम कोर्ट के कई फैसलों की अहम भूमिका रही है।

सुप्रीम कोर्ट 24 जनवरी 1975 में बहुचर्चित उत्तर प्रदेश राज्य बनाम राजनारायण तथा अन्य मामले में ही इस पर जोर दे चुका था कि सूचना का अधिकार बोली और अभिव्यक्ति की आजादी का हिस्सा है। सुप्रीम कोर्ट ने कहा था, “इस देश के लोगों को हर सार्वजनिक काम, वह सब कुछ जो सार्वजनिक दायरे में सार्वजनिक पदाधिकारियों द्वारा किया जाता है, उसे जानने का अधिकार है। उन्हें हर सार्वजनिक लेन-देन के हर ब्योरे जानने का अधिकार है। बोली की आजादी की अवधारणा से निकला जानकारकर अधिकार बिना शर्त तो नहीं है, लेकिन यह ऐसी वजह है कि जब भी लेन-देन को गोपनीय बताया जाए तो सतर्क हो जाना चाहिए क्योंकि उसका सार्वजनिक सुरक्षा से कोई लेना-देना नहीं हो सकता। सामान्य रोजमर्रा के कामकाज को गोपनीयता के पर्दे में छुपाना सार्वजनिक हित में नहीं है।” सुप्रीम कोर्ट उसके बाद भी कई मामलों में ये बातें दोहरा चुका है। यही नहीं, संयुक्त राष्ट्र भी कई बार अपने मानवाधिकार प्रस्तावों में सूचना का अधिकार मुहैया कराने की अपील करता रहा है।

दुनिया के कई देशों खासकर पश्चिमी यूरोप के देशों में सूचना के अधिकार को बेहद अहम माना जाता है। स्वीडन पहला देश है, जहां 1766 में लेखन और प्रेस की आजादी के रूप में सूचना के अधिकार पर अमल हुआ था। द्वितीय विश्व युद्ध के बाद संयुक्त राष्ट्र ने सूचना के अधिकार को मान्यता दी। संयुक्त राष्ट्र ने 1948 में इस प्रस्ताव को अपना लिया। संयुक्त राष्ट्र में 14 दिसम्बर 1946 को कहा गया, “सूचना का हक एक बुनियादी मानवाधिकार है और उन नागरिक स्वतंत्रताओं के लिए पारस पत्थर की तरह है, जिसे संयुक्त राष्ट्र ने प्रतिष्ठित किया है।” 16 दिसम्बर 1948 को ऐलान किए गए सार्वजनिक मानवाधिकार उद्घोषणा का अनुच्छेद 19 कहता है, “हर किसी को अपनी राय बनाने के लिए सूचना और विचारों के आदान-प्रदान की आजादी है।” यह इतिहास याद करने की वजह सिर्फ यह है कि सूचना का अधिकार लंबी जद्दोजहद के बाद हासिल हुआ है, इसलिए हमेशा उसके विस्तार पर जोर देने की दरकार है, न कि उस पर किसी तरह की पाबंदी लादने की। हमारे राष्ट्र और संविधान निर्माताओं ने बार-बार इस पर जोर दिया है कि सूचनाओं और जानकारियों का निरंतर प्रवाह ही लोकतंत्र को मजबूत करने और लोगों को अधिकारों के प्रति जागरूक बनाने का अहम जरिया है।

समाजवादी नेता राममनोहर लोहिया ने तो मातृभाषा में सरकारी कामकाज की अनिवार्यता के पक्ष में इस दलील का विस्तार किया था। उन्होंने कहा था, “अदालतों में वकील अंग्रेजी में उसी तरह बोल देता है, जैसे कोई जादूगर अगड़म-बगड़म छू कह कर चमत्कृत कर देता है। अगर देश का आम आदमी की अपनी भाषा में ये सब काम होंगे तो वह समझ पाएगा कि क्या चल रहा है। संभव है कि वह भी कोई अनोखी दलील पेश कर सके। लेकिन वैसा होने पर हमारे सरकारी मुलाजिमों और वकील वगैरह का असर खत्म हो जाएगा, इसलिए वे अपने हित में पराई भाषा को बनाए रखना चाहते हैं।” जाहिर है, यह दलील वही है, जो लोकतंत्र को मजबूत करने के लिए अहम है। इसी वजह से तथाकथित संवेदनशील और गोपनीय विषयों की सूची बेहद छोटी होनी चाहिए। यह सूची जितनी लंबी होगी, समझिए लोकतंत्र का दायरा उतना ही छोटा होगा। यह तभी होगा, जब सूचना मुहैया कराने की व्यवस्था किसी तरह की दखलअंदाजी से मुक्त होगी।

इसलिए सूचना के अधिकार और सूचना आयुक्तों का दर्जा, न्यायालयों, चुनाव आयोग से कमतर महत्त्व का नहीं है। सूचना आयुक्तों को सरकार के रहमोकरम पर नहीं, बल्कि अधिक स्वतंत्र और स्वायत्त करने की दरकार है, ताकि वे हर सार्वजनिक कामकाज, सार्वजनिक लेन-देन की जानकारियां लोगों को मुहैया कराने में सक्षम हों और हर सरकार को उनके फैसलों और निर्देशों पर अमल करना अनिवार्य हो। दरअसल, संशोधन तो यह होना चाहिए कि सूचना के अधिकार से वंचित करने वालों को दंडित किया जा सके। बेशक उसकी शर्त तय होनी चाहिए क्योंकि दुरुपयोग की संभावना भी हमेशा बनी ही रहती है। ऐसे प्रावधान भी किए जाने चाहिए कि किसी सरकार या संसद के लिए अपनी बहुसंख्या के बल पर

सूचना के अधिकार को ढीला करने की प्रक्रिया असान न हो। ठीक उसी तरह जैसे इमरजेंसी के बाद आई जनता पार्टी की सरकार के दौरान संविधान संशोधन के जरिए इमरजेंसी लगाने और नागरिक स्वतंत्रताओं को मुलतवी करने को लगभग असंभव-सा बना दिया गया था। क्या सरकार और तमाम राजनैतिक पार्टियां इस ओर ध्यान देंगी!

## जनसत्ता

Date: 21-07-18

### भ्रष्टाचार के विरुद्ध

#### संपादकीय

आर्थिक अपराधों को अंजाम देकर विदेश भाग जाने के कई मामले सुर्खियों में आने के बाद ऐसे लोगों से निपटने के लिए कानून बनाने की कवायद तेज हो गई है। गुरुवार को राज्यसभा ने भ्रष्टाचार निरोधक कानून में संशोधन वाले विधेयक को मंजूरी दे दी। जबकि लोकसभा ने भगोड़ा आर्थिक अपराधी विधेयक, 2018 को ध्वनिमत से पारित कर दिया। हालांकि अभी इन दोनों विधेयकों को कानून की शकल लेने के लिए लंबी प्रक्रिया से गुजरना है, लेकिन उम्मीद की जानी चाहिए कि यह काम तेजी से होगा और आर्थिक अपराध करने वालों पर नकेल कसी जा सकेगी। पिछले दो दशकों में देश में भ्रष्टाचार और आर्थिक अपराधों का ग्राफ जिस तेजी से बढ़ा है, वह काफी गंभीर है। इससे अर्थव्यवस्था को भी भारी नुकसान पहुंचता है। इतना ही नहीं, बढ़ता भ्रष्टाचार व्यवस्था पर से आमजन के विश्वास को भी कम करता है।

हालांकि घूसखोरी जैसे मामलों से निपटने के लिए कानून पहले से मौजूद थे, लेकिन ये कमजोर साबित हो रहे थे। जहां तक सवाल है आर्थिक अपराध करके भाग निकलने वालों का, तो ऐसे मामलों से निपटने के लिए पर्याप्त कानूनों की जरूरत लंबे समय से महसूस की जा रही थी। यों भ्रष्टाचार निरोधक कानून करीब तीन दशक पुराना है। इसमें संशोधन की कवायद पांच साल पहले यानी 2013 में हुई थी। इस विधेयक को पहले संसदीय समिति के पास विचार के लिए भेजा गया था। उसके बाद विधि विशेषज्ञों की समिति और फिर 2015 में चयन समिति के पास भेजा गया। इस समिति ने 2016 में रिपोर्ट दी। पिछले साल इसे संसद में लाया में गया। इतने लंबे वक्त के बाद इस बार राज्यसभा से इसे हरी झंडी मिली है। अब इसे मंजूरी के लिए लोकसभा को भेजा जाएगा। पुराना कानून भ्रष्टाचार, घूसखोरी जैसे अपराधों से निपटने में कमजोर साबित हो रहा था। इसीलिए इसमें अब संशोधन करके इसे सख्त बनाने के प्रयास किए गए हैं। नए बिल में घूसखोरी को लेकर कड़े प्रावधान किए गए हैं।

इसमें एक मुख्य बात यह है कि अब तक घूस लेने वाले तो लपेटे में आ जाते थे, लेकिन घूस देने वालों का कुछ नहीं बिगड़ता था। लेकिन इस संशोधन विधेयक में अब घूस देने वाले को भी सजा का प्रावधान किया गया है। अगर कानून बन गया तो घूस देने वाले को भी कम से कम तीन साल और अधिकतम सात साल की सजा होगी। अगर घूस देने वाला किसी व्यक्ति किसी व्यावसायिक संस्थान से जुड़ा है तो वह भी जांच के दायरे में आएगा और ऐसे में विशेष अदालत के जज दो साल के भीतर ऐसे मामलों की सुनवाई सुनिश्चित करेंगे। लेकिन इस संशोधन विधेयक में कुछ प्रावधान ऐसे हैं जिनसे घूसखोर सरकारी अफसरों पर हाथ डालना जांच एजेंसियों के लिए आसान नहीं होगा। सीबीआइ या अन्य जांच एजेंसियां किसी भी अधिकारी के खिलाफ संबंधित प्राधिकारी की इजाजत के बिना मामला दर्ज नहीं कर सकेंगी। ऐसे में सवाल उठता है कि क्या इस कानून में संशोधन घूस देने वालों पर शिकंजा कसने के लिए ही किया गया है! इसीलिए

इसके दुरुपयोग की आशंकाएं खड़ी हुई हैं। सरकार और कानून प्रवर्तन एजेंसियों को यह सुनिश्चित करना होगा कि ऐसे कानून का इस्तेमाल भ्रष्टाचार से निपटने में हो, न कि यह उत्पीड़न का हथियार बन जाए।

दूसरा कानून भगोड़े आर्थिक अपराधियों को लेकर है। विजय माल्या, नीरव मोदी, मेहुल चौकसी जैसे बड़े आर्थिक घोटालेबाजों के विदेश भाग जाने के बाद इनको भारत वापस लाने में सरकार को अब तक कोई कामयाबी हासिल नहीं हुई है। माल्या पर बैंकों का नौ हजार करोड़ रुपए से ज्यादा बाकी है। जबकि नीरव मोदी और मेहुल चौकसी पंजाब नेशनल बैंक का तेरह हजार करोड़ रुपए से ज्यादा पैसा लेकर भागे हैं। ऐसे अपराधियों से निपटने में सरकारी तंत्र लाचार साबित हुआ है। इन अपराधियों को वापस लाना बड़ी चुनौती है। इसलिए सरकार ने भगोड़े आर्थिक अपराधी विधेयक- 2018 को संसद में पेश कर कानून बनाने की दिशा में कदम बढ़ाया है। इस विधेयक में ऐसे अपराधियों को भारत की कानूनी प्रक्रिया से बचने से रोकने, उनकी संपत्ति जब्त करने और उन्हें दंडित करने के प्रावधान किए गए हैं। इसमें ऐसे सभी भगोड़े आर्थिक अपराधी शामिल होंगे जो सौ करोड़ रुपए से ज्यादा का घोटाला कर भाग निकले हैं। ऐसे घोटाले और घूसखोरी जैसे अपराधों का इतिहास पुराना है। लेकिन हैरानी की बात यह है कि ऐसे अपराधियों से निपटने के लिए जो कानून बहुत पहले होने चाहिए थे, उन्हें बनाने की दिशा में अब बढ़ा गया है।

---